॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः
(तेरहवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र अर्जुन!	**अभिधीयते**	=नामसे कहते हैं (और)	**तद्विदः**	=ज्ञानीलोग
इदम्	='यह'-रूपसे कहे जानेवाले	**एतत्**	=इस क्षेत्रको	**क्षेत्रज्ञः**	='क्षेत्रज्ञ'—
शरीरम्	=शरीरको	**यः**	=जो	**इति**	=इस नामसे
क्षेत्रम्	='क्षेत्र'—	**वेत्ति**	=जानता है,		
इति	=इस	**तम्**	=उसको	**प्राहुः**	=कहते हैं।

विशेष भाव—'इदम्' (क्षेत्र)के अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जितने भी शरीर हैं, उनमें 'परा' (जीव) क्षेत्रज्ञ है और 'अपरा' (जगत्) क्षेत्र है। जीव जगत्को जाननेवाला और परमात्माको माननेवाला है। जाननेवाला व्यापक होता है। अतः क्षेत्रज्ञके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं—**'येन सर्वमिदं ततम्'** (गीता २। १७)। साधकको जानना चाहिये कि मैं क्षेत्र नहीं हूँ, प्रत्युत क्षेत्रको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ हूँ।

दृश्य द्रष्टाके किसी अंशमें होता है। जैसे, आँखसे सब कुछ देखनेपर भी आँख नहीं भरती। अतः वास्तवमें आँख दृश्यसे भी बड़ी हुई। बुद्धिसे कितनी ही बातें जान लें, पर बुद्धि कभी भरती नहीं, खाली ही रहती है। ज्यों भरते हैं, त्यों खाली होती है। अतः बुद्धि बड़ी हुई। ब्रह्माजीकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी हमारी बुद्धिके जाननेके अन्तर्गत हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सम्पूर्ण शरीर दृश्य हैं। ऐसे ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण सम्पूर्ण सृष्टि भी दृश्य है। यह सम्पूर्ण दृश्य द्रष्टा (क्षेत्रज्ञ) के किसी अंशमें है।

जैसे धनके सम्बन्धसे मनुष्य 'धनवान्' कहलाता है; किन्तु धनका सम्बन्ध न रहनेपर धनवान् (व्यक्ति) तो रहता है, पर उसकी 'धनवान्' संज्ञा नहीं रहती। ऐसे ही क्षेत्रके सम्बन्धसे स्वयं 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है; किन्तु क्षेत्रका सम्बन्ध न रहनेपर क्षेत्रज्ञ (स्वयं) तो रहता है, पर उसकी 'क्षेत्रज्ञ' संज्ञा नहीं रहती। तात्पर्य है कि एक ही चिन्मय तत्त्व (समझनेकी दृष्टिसे) क्षेत्रके सम्बन्धसे क्षेत्रज्ञ, क्षरके सम्बन्धसे अक्षर, शरीरके सम्बन्धसे शरीरी, दृश्यके सम्बन्धसे द्रष्टा, साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षी और करणके सम्बन्धसे कर्ता कहा जाता है। वास्तवमें उस तत्त्वका कोई नाम नहीं है। वह केवल अनुभवरूप है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

भारत	=हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! (तू)	**क्षेत्रज्ञम्**	=क्षेत्रज्ञ	**विद्धि**	=समझ
		माम्	=मुझे	**च**	=और
सर्वक्षेत्रेषु	=सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें	**अपि**	=ही	**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः**	=क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका

यत्	= जो	**तत्**	= वही	**मतम्**	= मतमें
ज्ञानम्	= ज्ञान है,	**मम**	= मेरे	**ज्ञानम्**	= ज्ञान है।

विशेष भाव—क्षेत्रज्ञ (जीव) और ब्रह्म एक ही हैं। एक क्षेत्रके सम्बन्धसे वह 'क्षेत्रज्ञ' है और सम्पूर्ण क्षेत्रोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर वह 'ब्रह्म' है।

'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रम्' पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि शरीर (क्षेत्र)की अनन्त ब्रह्माण्डों (सृष्टिमात्र)के साथ एकता है और **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'** पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि स्वयं (क्षेत्रज्ञ) की अनन्त-अपार-असीम परमात्माके साथ एकता है। अतः हमारेसे दूर-से-दूर कोई वस्तु है तो वह शरीर है और नजदीक-से-नजदीक कोई वस्तु है तो वह परमात्मा है। तात्पर्य है कि शरीर और संसार एक हैं तथा स्वयं और परमात्मा एक हैं (गीता १५। ७)। यही ज्ञान है।

ब्रह्मके लिये **'माम्'** कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्म और ईश्वर दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं—**'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूपसे व्याप्त है'। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जो निर्लिप्तरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण चेतन है, वह ब्रह्म है और जो अनन्त ब्रह्माण्डोंका मालिक है, वह ईश्वर है।

~~~~

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

तत्	= वह	**च**	= और	**च**	= और
क्षेत्रम्	= क्षेत्र	**यतः**	= जिससे	**यत्प्रभावः**	= जिस प्रभाववाला है,
यत्	= जो है	**यत्**	= जो (पैदा हुआ है)	**तत्**	= वह सब
च	= और	**च**	= तथा	**समासेन**	= संक्षेपमें
यादृक्	= जैसा है	**सः**	= वह क्षेत्रज्ञ (भी)	**मे**	= मुझसे
च	= तथा	**यः**	= जो है	**शृणु**	= सुन।
यद्विकारि	= जिन विकारोंवाला है				

विशेष भाव—भगवान्के द्वारा **'तत्समासेन मे शृणु'** कहनेका तात्पर्य है कि साधकके लिये ज्यादा जाननेकी जरूरत नहीं है। ज्यादा जाननेमें समय तो ज्यादा खर्च होगा, पर साधन कम होगा।

~~~~

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्व—

ऋषिभिः	= ऋषियोंके द्वारा	**विविधैः**	= बहुत प्रकारसे	**हेतुमद्भिः**	= युक्तियुक्त (एवं)
बहुधा	= बहुत विस्तारसे	**पृथक्**	= विभागपूर्वक (कहा गया है)	**विनिश्चितैः**	= निश्चित किये हुए
गीतम्	= कहा गया है (तथा)			**ब्रह्मसूत्रपदैः**	= ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा
छन्दोभिः	= वेदोंकी ऋचाओंद्वारा	**च**	= और	**एव**	= भी (कहा गया है)।

~~~~

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥
~~~~

अव्यक्तम्	= मूल प्रकृति	**महाभूतानि**	= पाँच महाभूत	**च**	= तथा
च	= और	**च**	= और	**पञ्च**	= पाँचों
बुद्धिः	= समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व),	**दश**	= दस	**इन्द्रियगोचराः**	= इन्द्रियोंके पाँच विषय—
		इन्द्रियाणि	= इन्द्रियाँ,	**एव**	= यही (चौबीस तत्त्वों-वाला क्षेत्र है।)
अहङ्कारः	= समष्टि अहंकार,	**एकम्**	= एक मन		

~~~

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

इच्छा	= इच्छा,	**चेतना**	= चेतना (प्राणशक्ति) (और)	**क्षेत्रम्**	= क्षेत्र
द्वेषः	= द्वेष,				
सुखम्	= सुख,	**धृतिः**	= धृति—	**समासेन**	= संक्षेपसे
दुःखम्	= दुःख,	**सविकारम्**	= इन विकारोंसहित		
सङ्घातः	= संघात (शरीर)	**एतत्**	= यह	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

विशेष भाव—क्षेत्रके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि विकार क्षेत्रज्ञमें होते हैं—**'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'** (१३।२०)। इच्छा-द्वेषादि सभी विकार तादात्म्य (जड़-चेतनकी ग्रन्थि) में हैं। तादात्म्यमें भी ये विकार जड़-अंशमें रहते हैं।

यहाँ भगवान्‌ने चौबीस तत्त्वोंवाले शरीरको तथा उसके सात विकारोंको **'एतत्'** (यह) कहा है—**'एतत्क्षेत्रम्'**। इसका तात्पर्य है कि स्वयं क्षेत्रसे मिला हुआ नहीं है, प्रत्युत सर्वथा अलग है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीर **'एतत्'** पदके अन्तर्गत होनेसे हमारा स्वरूप नहीं है। यहाँ विशेष ध्यान देनेकी बात है कि जब अहंकारका कारण 'महत्तत्त्व' और 'मूल प्रकृति' को भी **'एतत्'** शब्दसे कह दिया तो फिर अहंकारके **'एतत्'** होनेमें कहना ही क्या है! अहम्‌से नजदीक महत्तत्त्व है और महत्तत्त्वसे नजदीक प्रकृति है, वह प्रकृति भी **'एतत् क्षेत्रम्'** में है। तात्पर्य है कि अहम् हमारा स्वरूप है ही नहीं। जो मनुष्य स्वयंको और अहम् (क्षेत्र) को अलग-अलग जान लेता है, उसका फिर कभी जन्म नहीं होता और वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता १३।२३)।

~~~

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

अमानित्वम्	= अपनेमें श्रेष्ठताका भाव न होना,	**क्षान्तिः**	= क्षमा,	**स्थैर्यम्**	= स्थिरता (और)
		आर्जवम्	= सरलता,	**आत्म-विनिग्रहः**	= मनका वशमें होना।
अदम्भित्वम्	= दिखावटीपन न होना,	**आचार्योपासनम्**	= गुरुकी सेवा,		
अहिंसा	= अहिंसा,	**शौचम्**	= बाहर-भीतरकी शुद्धि,		

विशेष भाव—भगवान् क्षेत्रके साथ माने हुए सम्बन्ध (तादात्म्य) को तोड़नेके लिये ज्ञानके साधन बताते हैं। ये साधन तादात्म्यको तोड़नेमें सहायक हैं।

~~~

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८॥
~~~

इन्द्रियार्थेषु	=इन्द्रियोंके विषयोंमें		होना		वृद्धावस्था तथा
वैराग्यम्	=वैराग्यका होना,	**च**	=और		व्याधियोंमें दुःख-
अनहङ्कारः,		**जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानु-**			रूप दोषोंको बार-
एव	=अहंकारका भी न	**दर्शनम्**	=जन्म, मृत्यु,		बार देखना।

विशेष भाव—एक 'दुःखका भोग' होता है और एक 'दुःखका प्रभाव' होता है। दुःखसे दुःखी होना और सुखकी इच्छा करना 'दुःखका भोग' है। दुःखके कारणकी खोज करके उसको मिटाना 'दुःखका प्रभाव' है। यहाँ दुःखके प्रभावको '**दुःखदोषानुदर्शनम्**' पदसे कहा गया है।

दुःखका भोग करनेसे अर्थात् दुःखी होनेसे विवेक लुप्त हो जाता है। परन्तु दुःखका प्रभाव होनेसे विवेक लुप्त नहीं होता, प्रत्युत मनुष्य विवेकदृष्टिसे दुःखके कारणकी खोज करता है और खोज करके उसको मिटाता है। सुखकी इच्छा ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। कारणके मिटनेपर कार्य अपने-आप मिट जाता है; अतः सुखकी इच्छा मिटनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

असक्तिः	=आसक्तिरहित होना,	**अनभिष्वङ्गः**	=एकात्मता (घनिष्ठ सम्बन्ध) न होना	**पत्तिषु**	=अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें
पुत्रदार-		**च**	=और	**नित्यम्, समचित्तत्वम्**	= चित्तका नित्य सम रहना।
गृहादिषु	=पुत्र, स्त्री, घर आदिमें	**इष्टानिष्टोप-**			

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १०॥

मयि	=मुझमें	**भक्तिः**	=भक्तिका होना,	**च**	=और
अनन्ययोगेन	=अनन्ययोगके द्वारा	**विविक्त-**		**जनसंसदि**	=जन-समुदायमें
अव्यभि-		**देशसेवित्वम्**	=एकान्त स्थानमें रहनेका स्वभाव होना	**अरतिः**	=प्रीतिका न होना।
चारिणी	=अव्यभिचारिणी				

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

अध्यात्मज्ञान-			देखना	**अतः**	=इसके
नित्यत्वम्	=अध्यात्मज्ञानमें नित्य-निरन्तर रहना,	**एतत्**	=—यह (पूर्वोक्त बीस साधन-समुदाय) तो	**अन्यथा**	=विपरीत है,
तत्त्वज्ञानार्थ-				**अज्ञानम्**	=वह अज्ञान है—
				इति	=ऐसा
दर्शनम्	=तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सब जगह	**ज्ञानम्**	=ज्ञान है (और)	**प्रोक्तम्**	=कहा गया है।
		यत्	=जो		

विशेष भाव—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान करानेमें हेतु होनेसे इन बीस साधनोंको '**ज्ञान**' नामसे कहा गया है। इससे जो विपरीत है, वह अज्ञान है। साधन न करनेसे मनुष्य ज्ञानकी बातें तो सीख लेता है, पर अनुभव नहीं कर सकता। अत: साधन न करनेसे अज्ञान (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको एक देखना) रहता है और अज्ञानके रहते हुए अगर कोई सीखकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका विवेचन करता है तो वह वास्तवमें देहाभिमानको ही पुष्ट करता है। परन्तु जो ये साधन करता है, उसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विभाग करनेकी योग्यता आ जाती है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

यत्	= जो	**ज्ञात्वा**	= जानकर (मनुष्य)	**तत्**	= उसको
ज्ञेयम्	= ज्ञेय (पूर्वोक्त ज्ञानसे जाननेयोग्य) है,	**अमृतम्**	= अमरताका	**न**	= न
तत्	= उस (परमात्मतत्त्व) को	**अश्नुते**	= अनुभव कर लेता है।	**सत्**	= सत्
प्रवक्ष्यामि	= मैं अच्छी तरहसे कहूँगा,	**अनादिमत्**	= (वह ज्ञेय-तत्त्व) अनादिवाला	**उच्यते**	= कहा जा सकता है (और)
यत्	= जिसको	**परम्**	= (और) परम	**न, असत्**	= न असत् ही (कहा जा सकता है)।
		ब्रह्म	= ब्रह्म है।		

विशेष भाव—परमात्मतत्त्वको '**ज्ञेय**' कहनेका तात्पर्य है कि वह तत्त्व जाननेयोग्य है, उसको जानना चाहिये और वह जाननेमें शक्य है अर्थात् जाना जा सकता है। वास्तवमें वह तत्त्व जाननेमें आता नहीं है; क्योंकि प्रकृतिसे अतीत होनेके कारण वह प्रकृतिकी पकड़में नहीं आता। परन्तु वह स्वयंसे प्राप्त किया जा सकता है।

प्रकृति और पुरुष—दोनोंको अनादि कहा गया है (गीता १३। १९); अत: दोनोंका मालिक होनेसे परमात्माको यहाँ '**अनादिमत्**' अर्थात् अनादिवाला कहा गया है*। सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान्ने अपरा प्रकृतिको '**इतीयं मे**' कहकर और परा प्रकृति (जीवात्मा)को '**मे पराम्**' कहकर दोनोंको अपने अधीन बताया है; अत: दोनोंके मालिक भगवान् ही हुए। उपनिषद्में भी आया है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

(श्वेताश्वतर० १। १०)

'प्रकृति तो क्षर (परिवर्तनशील) है और इसको भोगनेवाला पुरुष (जीवात्मा) अमृतस्वरूप अक्षर (अपरिवर्तनशील) है। इन दोनों (प्रकृति और पुरुष) को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

गीतामें एक ही समग्र परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन आया है—

(१) परमात्मा सत् भी हैं और असत् भी हैं—'**सदसच्चाहम्**' (९। १९)।

(२) परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से पर भी हैं—'**सदसत्तत्परं यत्**' (११। ३७)।

(३) परमात्मा न सत् हैं और न असत् ही हैं—'**न सत्तन्नासदुच्यते**' (१३। १२)

—इसका तात्पर्य है कि वास्तवमें एक परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। वह मन, बुद्धि और वाणीसे सर्वथा अतीत है, इसलिये उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, पर उसको प्राप्त किया जा सकता है।

वास्तवमें परमात्मतत्त्वका वर्णन शब्दोंसे नहीं कर सकते। उसको असत्की अपेक्षासे सत्, विकारकी अपेक्षासे निर्विकार, एकदेशीयकी अपेक्षासे सर्वदेशीय कह देते हैं, पर वास्तवमें उस तत्त्वमें सत्, निर्विकार आदि शब्द लागू होते ही नहीं। कारण कि सभी शब्दोंका प्रयोग सापेक्षतासे और प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है, पर तत्त्व निरपेक्ष

* 'अनादिमत्परं ब्रह्म' पदोंका ऐसा अर्थ भी ले सकते हैं—'अनादि, मत्परं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म मेरे परायण (आश्रित) है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' (गीता १३। २७)।

और प्रकृतिसे अतीत है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, गुण आदिको लेकर ही संज्ञा बनती है। परमात्मामें ये देश, काल आदि हैं ही नहीं, फिर उनकी संज्ञा कैसे? इसलिये यहाँ आया है कि उस तत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।

परमात्मतत्त्वका आदि (आरम्भ) नहीं है। जो सदासे है, उसका आदि कैसे? सब अपर हैं, वह पर है। वह न सत् है, न असत्। आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्का भेद प्रकृतिके सम्बन्धसे है। वह तत्त्व तो आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्से विलक्षण है। इस प्रकार भगवान्ने ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन करनेकी जो बात कही है, वह वास्तवमें वर्णन नहीं है, प्रत्युत लक्षक अर्थात् लक्ष्यकी तरफ दृष्टि करानेवाला है। इसका तात्पर्य ज्ञेय-तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है, कोरा वर्णन करनेमें नहीं। इसलिये साधकको भी लक्षककी दृष्टिसे ही विचार करना चाहिये, केवल सीखनेकी दृष्टिसे नहीं।

~~~

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

तत्	=वे (परमात्मा)	**शिरोमुखम्**	=सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले (तथा)	**लोके**	=(वे) संसारमें
सर्वतःपाणिपादम्	=सब जगह हाथों और पैरोंवाले,	**सर्वतःश्रुतिमत्**	=सब जगह कानोंवाले हैं।	**सर्वम्**	=सबको
सर्वतोऽक्षि-				**आवृत्य**	=व्याप्त करके
				तिष्ठति	=स्थित हैं।

विशेष भाव—परमात्मामें सब जगह सब कुछ है। जैसे, कलम और स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं है? जानकार आदमी उस एक ही कलम और स्याहीसे अनेक लिपियाँ लिख देता है। सोनेकी डलीमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? सुनार उस एक डलीमेंसे कड़ा, कण्ठी, हार, नथ आदि अनेक गहने निकाल लेता है। इसी तरह लोहेमें किस जगह कौन-सा औजार अथवा अस्त्र-शस्त्र नहीं है? मिट्टी और पत्थरमें किस जगह कौन-सी मूर्ति नहीं है? ऐसे ही परमात्मामें किस जगह क्या नहीं है? परमात्मासे ही यह सब सृष्टि पैदा हुई है, उसीमें स्थित रहती है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाती है। पहले भी वही है, पीछे भी वही है, फिर बीचमें दूसरी चीज कैसे आये? कहाँसे आये? इस बातको साधक दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो फिर परमात्मा दीखने लग जायगा; क्योंकि वास्तवमें हैं ही वही, दूसरी चीज है ही नहीं! भगवान् कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३२)

'सृष्टिसे पहले भी मैं ही विद्यमान था, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं था और सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह संसार दीखता है, वह भी मैं ही हूँ। सत्, असत् तथा सत्-असत्से परे जो कुछ कल्पना की जा सकती है, वह भी मैं ही हूँ। सृष्टिके सिवाय भी जो कुछ है, वह मैं ही हूँ और सृष्टिका नाश होनेपर जो शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

तात्पर्य है कि सत्ता एक ही है। द्वन्द्वोंमें उलझे रहनेके कारण उसका अनुभव नहीं होता।

~~~

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

सर्वेन्द्रियविवर्जितम्	=वे (परमात्मा) सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित हैं (और)	**असक्तम्**	=आसक्तिरहित हैं	**च, एव**	=तथा
		च	=और	**निर्गुणम्**	=गुणोंसे रहित हैं (और)
सर्वेन्द्रियगुणाभासम्	= सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाले हैं;	**सर्वभृत्**	=सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाले हैं	**गुणभोक्तृ**	=सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।

विशेष भाव— इस प्रकरणमें ब्रह्मकी मुख्यता होनेपर भी प्रस्तुत श्लोकमें 'समग्र' परमात्माका वर्णन हुआ है। यह समग्र ही ज्ञेय-तत्त्व है। अतः समग्रकी मुख्यता ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९), **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दोग्य० ३। १४। १)।

इस श्लोकका तात्पर्य है कि एक परमात्माके सिवाय और किसीकी भी सत्ता नहीं है। हम जो कुछ भी कहेंगे, वह परमात्मासे अलग नहीं है। सबसे रहित भी वही है और सबके सहित भी वही है।

~~~

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥

तत्	=वे (परमात्मा)		(प्राणियोंके रूपमें)		नजदीक भी (वे ही हैं)
भूतानाम्	=सम्पूर्ण प्राणियोंके	**एव**	=भी (वे ही हैं)		
बहिः, अन्तः	=बाहर-भीतर (परिपूर्ण हैं)	**च**	=एवं	**च**	=और
		दूरस्थम्	=दूर-से-दूर	**तत्**	=वे
च	=और	**च**	=तथा	**सूक्ष्मत्वात्**	=अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे
चरम्, अचरम्	= चर-अचर	**अन्तिके**	=नजदीक-से-	**अविज्ञेयम्**	=जाननेमें नहीं आते।

विशेष भाव— परमात्माको बारहवें श्लोकमें 'ज्ञेय' कहा गया है। परन्तु इस श्लोकमें उनको 'अविज्ञेय' कहनेका तात्पर्य है कि परमात्मा ज्ञेय होनेपर भी संसारकी तरह ज्ञेय नहीं हैं। जैसे संसार इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जाना जाता है, ऐसे परमात्मा इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे नहीं जाने जाते। इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके कार्य हैं और परमात्मा प्रकृतिसे अतीत हैं। प्रकृतिका कार्य प्रकृतिको भी पूरा नहीं जान सकता, फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्माको जान ही कैसे सकता है? परमात्माको तो मानकर स्वीकार करना पड़ता है; क्योंकि स्वीकृति स्वयंमें होती है, करण (मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ)में नहीं।* स्वयंकी परमात्माके साथ एकता है, इसलिये परमात्माकी प्राप्ति भी स्वीकृतिसे होती है, चिन्तन-मनन-वर्णन करनेसे नहीं। शरीर-संसारके साथ स्वयंकी एकता कभी हुई नहीं, है नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। परमात्मासे स्वयं कभी अलग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं।

~~~

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

तत्	=वे (परमात्मा)		होते हुए	**भूतेषु**	=सम्पूर्ण प्राणियोंमें
अविभक्तम्	=(स्वयं) विभागरहित	**च**	=भी	**विभक्तम्**	=विभक्तकी

* स्वीकृति स्वयंमें होती है, इसलिये स्वीकृतिवाली बात भूली नहीं जाती; जैसे—'मैं ब्राह्मण हूँ'; 'मैं विवाहित हूँ' आदि। परन्तु मन-बुद्धिमें होनेवाली बात भूली जाती है। स्वीकृतिवाली बातमें कोई सन्देह भी नहीं होता और विपरीत भावना भी नहीं होती।

इव	=तरह		(परमात्मा ही)	**प्रभविष्णु**	=उनका भरण-पोषण करनेवाले
स्थितम्	=स्थित हैं	**भूतभर्तृ**	=सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले		
च	= और			**च**	=और
ज्ञेयम्	=(वे) जाननेयोग्य	**च**	=तथा	**ग्रसिष्णु**	=संहार करनेवाले हैं।

विशेष भाव—इस श्लोकमें परमात्माके समग्ररूपका वर्णन हुआ है। जैसे संसार भौतिक दृष्टिसे एक है, ऐसे ही वास्तविक तत्त्व (परमात्मा) भी एक है, अविभक्त है। परन्तु जैसे संसार पाञ्चभौतिक दृष्टिसे एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं, व्यक्तियों (जड़-चेतन, स्थावर-जंगम) आदिके रूपमें दीखता है, ऐसे ही परमात्मा एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें दीखते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मा एक होते हुए भी अनेक हैं और अनेक होते हुए भी एक हैं। वास्तविक सत्ता कभी दो हो सकती ही नहीं; क्योंकि दो होनेसे असत् आ जाता है।

उत्पन्न करनेवाले भी परमात्मा हैं और उत्पन्न होनेवाले भी परमात्मा हैं। भरण-पोषण करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका भरण-पोषण होता है, वे भी परमात्मा हैं। संहार करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका संहार होता है, वे भी परमात्मा हैं।

~~~

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

तत्	=वे (परमात्मा)	**परम्**	=अत्यन्त परे	**ज्ञानगम्यम्**	=ज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य (और)
ज्योतिषाम्	=सम्पूर्ण ज्योतियोंके	**उच्यते**	=कहे गये हैं।		
अपि	=भी	**ज्ञानम्**	=(वे) ज्ञानस्वरूप,	**सर्वस्य**	=सबके
ज्योतिः	=ज्योति (और)			**हृदि**	=हृदयमें
तमसः	=अज्ञानसे	**ज्ञेयम्**	=जाननेयोग्य,	**विष्ठितम्**	=विराजमान हैं।

विशेष भाव—बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन हुआ है, वह भगवान्‌का समग्ररूप **('वासुदेवः सर्वम्')** ही है। कारण कि इसमें निर्गुण-निराकार (१३। १२), सगुण-निराकार (१३। १३) और सगुण-साकार (१३। १६)—तीनों ही रूपोंका वर्णन हुआ है।

'ज्ञानगम्यम्'—परमात्मा तत्त्वज्ञानसे ही जाने जाते हैं, क्रिया, वस्तु आदिसे नहीं। तत्त्वज्ञानके सिवाय उनको जाननेका दूसरा कोई साधन नहीं है। मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि जिस साधनसे परमात्माको जानेगा, वास्तवमें तत्त्वज्ञानसे ही जानेगा। श्रद्धा-भक्ति, विश्वास, भगवत्कृपा आदिसे भी जानेगा तो तत्त्वज्ञानसे ही जानेगा। कारण कि जानना ज्ञानसे ही होता है।

यहाँ **'ज्ञानगम्यम्'** पदका अर्थ 'साधन-समुदायसे प्राप्त होनेयोग्य' भी लिया जा सकता है, जिसका वर्णन इसी अध्यायके सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक हुआ है।

~~~

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

इति	=इस प्रकार	**ज्ञेयम्**	=ज्ञेयको	**विज्ञाय**	=तत्त्वसे जानकर
क्षेत्रम्	=क्षेत्र	**समासतः**	=संक्षेपसे		
तथा	=तथा	**उक्तम्**	=कहा गया है।	**मद्भावाय**	=मेरे भावको
ज्ञानम्	=ज्ञान	**मद्भक्तः**	=मेरा भक्त	**उपपद्यते**	=प्राप्त हो जाता है।
च	=और	**एतत्**	=इसको		

विशेष भाव—यहाँ '**मद्भक्त एतद्विज्ञाय**' पदोंका तात्पर्य है कि समग्र परमात्माका ज्ञान भक्तिसे ही हो सकता है*। अतः साधकको भक्त होना चाहिये।

इस श्लोकमें आये '**मद्भावायोपपद्यते**' पदको गीतामें कई प्रकारसे कहा गया है; जैसे—'**मद्भावमागताः**' (४। १०), '**मम साधर्म्यमागताः**' (१४। २), '**मद्भावं सोऽधिगच्छति**' (१४। १९)। 'मद्भाव' का अर्थ है—मुझ परमात्माकी सत्ता। यह सिद्धान्त है कि सत्ता एक ही होती है, दो नहीं होती। भगवान्‌ने गीतामें ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें ही अपने भावकी प्राप्ति बतायी है। 'ज्ञान' में इसका तात्पर्य है—ब्रह्मसे साधर्म्य होना अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दरूप है, ऐसे ही ज्ञानी महापुरुषका भी सत्-चित्-आनन्दरूप होना। 'भक्ति' में इसका तात्पर्य है—भक्तकी भगवान्‌के साथ आत्मीयता अर्थात् अभिन्नता होना।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

प्रकृतिम्	= प्रकृति	**गुणान्**	= गुणोंको	**हेतुः**	= हेतु
च	= और	**अपि**	= भी	**उच्यते**	= कही जाती है (और)
पुरुषम्	= पुरुष	**प्रकृतिसम्भवान्, एव**	= प्रकृतिसे ही उत्पन्न	**सुखदुःखानाम्**	= सुख-दुःखोंके
उभौ	= दोनोंको	**विद्धि**	= समझो।	**भोक्तृत्वे**	= भोक्तापनमें
एव	= ही (तुम)	**कार्यकरणकर्तृत्वे**	= कार्य और करणके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें	**पुरुषः**	= पुरुष
अनादी	= अनादि	**प्रकृतिः**	= प्रकृति	**हेतुः**	= हेतु
विद्धि	= समझो			**उच्यते**	= कहा जाता है।
च	= और				
विकारान्	= विकारोंको				
च	= तथा				

विशेष भाव—भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ही प्रकृति और पुरुषके नामसे पुनः वर्णन करते हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ व्यष्टि हैं और प्रकृति-पुरुष समष्टि हैं।

एक प्रकृति-विभाग है और एक पुरुष-विभाग है। शरीर तथा संसार प्रकृति-विभागमें हैं और आत्मा तथा परमात्मा पुरुष-विभागमें हैं। जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही इन दोनोंके भेदका ज्ञान अर्थात् विवेक भी अनादि है। अतः विवेक-दृष्टिसे देखें तो ये दोनों विभाग एक-दूसरेसे बिलकुल असम्बद्ध हैं अर्थात् दोनोंमें किंचिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रकृति तो असत्, जड़ तथा दुःखरूप है और पुरुष सत्, चित् तथा आनन्दरूप है। प्रकृति नाशवान्, विकारी तथा क्रियाशील है और पुरुष अविनाशी, निर्विकार तथा अक्रिय है। प्रकृतिकी नित्यनिवृत्ति है और पुरुषकी नित्यप्राप्ति है। गीताके आरम्भमें भी भगवान्‌ने इसी विभागका वर्णन शरीर और शरीरी, देह और देही, सत् और असत् आदि नामोंसे किया है†। अतः इस विभागको ठीक-ठीक समझना प्रत्येक साधकके लिये बहुत आवश्यक तथा शीघ्र बोध करानेवाला है। कारण कि शरीर और शरीरीको एक मानना ही बन्धन है और इन दोनोंको बिलकुल अलग-अलग अनुभव करना ही मुक्ति है।

---

* प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥
(मानस, उत्तर० ४९। ३)

† पुरुष ही अहम्‌को स्वीकार करनेसे जीव, क्षेत्रज्ञ, शरीरी, देही आदि नामोंसे कहा जाता है।

भगवान् शक्तिमान् हैं और प्रकृति उनकी शक्ति है।* ज्ञानकी दृष्टिसे शक्ति और शक्तिमान्—दोनों अलग-अलग हैं; क्योंकि शक्तिमें तो परिवर्तन (घटना-बढ़ना) होता है, पर शक्तिमान् ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु भक्तिकी दृष्टिसे शक्ति और शक्तिमान्—दोनों अभिन्न हैं; क्योंकि शक्तिको शक्तिमान्से अलग नहीं कर सकते अर्थात् शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ज्ञान और भक्ति—दोनोंकी बात रखनेके लिये ही भगवान्ने प्रकृतिको न अनन्त कहा है और न सान्त कहा है, प्रत्युत 'अनादि' कहा है। कारण कि अगर प्रकृतिको अनन्त (नित्य) कहें तो ज्ञानका खण्डन हो जायगा; क्योंकि ज्ञानकी दृष्टिसे प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। अगर प्रकृतिको सान्त (अनित्य) कहें तो भक्तिका खण्डन हो जायगा; क्योंकि भक्तिकी दृष्टिसे प्रकृति भगवान्की शक्ति होनेसे भगवान्से अभिन्न है—'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रकृति और पुरुषका स्वभाव अलग-अलग होते हुए भी दोनों परस्पर अभिन्न ही हैं।

वास्तवमें परमात्माका स्वरूप 'समग्र' है। परमात्मामें कोई शक्ति न हो—ऐसा सम्भव नहीं है। अगर परमात्माको सर्वथा शक्तिरहित मानें तो परमात्मा एकदेशीय ही सिद्ध होंगे। उनमें शक्तिका परिवर्तन अथवा अदर्शन तो हो सकता है, पर शक्तिका अभाव नहीं हो सकता। शक्ति कारणरूपसे उनमें रहती ही है, अन्यथा परमात्माके सिवाय शक्ति (प्रकृति)के रहनेका स्थान कहाँ होगा? इसलिये यहाँ प्रकृति और पुरुष दोनोंको 'अनादि' कहा गया है।

~~~~

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥

प्रकृतिस्थः	= प्रकृतिमें स्थित	**भुङ्क्ते**	= भोक्ता बनता है (और)	**सदसद्योनिजन्मसु**	= ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका
पुरुषः	= पुरुष (जीव)				
हि	= ही	**गुणसङ्गः**	= गुणोंका संग (ही)		
प्रकृतिजान्	= प्रकृतिजन्य				
गुणान्	= गुणोंका	**अस्य**	= इसके	**कारणम्**	= कारण बनता है।

विशेष भाव—भगवान्ने उन्नीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें एवं बीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'प्रकृति' का वर्णन किया है और बीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें और यहाँ इक्कीसवें श्लोकमें 'पुरुष' का वर्णन किया है।

वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके साथ सम्बन्ध ही 'गुणसंग' है, जो जन्म-मरणका कारण है। गुणोंका संग अनित्य है और गुणोंसे असंगता नित्य है। असंगता हमारा स्वरूप है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५)। अगर हम अनित्य (गुणोंके संग) को न पकड़ें तो जन्म-मरण हो ही नहीं सकता।

'मैं' जड़ (प्रकृति) है और 'हूँ' चेतन (पुरुष) है तथा 'मैं हूँ'—यह जड़-चेतनका तादात्म्य है। इस 'मैं हूँ' में ही कर्तापन और भोक्तापन रहता है। अगर 'मैं' न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। जैसे लोहे और अग्निमें तादात्म्य न रहनेसे लोहा पृथ्वीपर ही रह जाता है और अग्नि निराकार अग्नि-तत्त्वमें लीन हो जाती है, ऐसे ही अहम् तो प्रकृतिमें ही रह जाता है और 'हूँ' ('है' का स्वरूप होनेसे) 'है' में ही विलीन हो जाता है। 'है' में कर्तापन और भोक्तापन नहीं है। तात्पर्य है कि भोगोंमें 'हूँ' खिंचता है, 'है' नहीं खिंचता। 'हूँ' ही कर्ता-भोक्ता बनता है, 'है' कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। अतः साधक 'हूँ' को न मानकर 'है' को ही माने अर्थात् अनुभव करे।

सुख-दुःखके आने-जानेका और स्वयंके रहनेका अनुभव सबको है। पापी-से-पापी मनुष्यको भी इसका अनुभव है। ऐसा अनुभव होनेपर भी मनुष्य आगन्तुक सुख-दुःखके साथ मिलकर सुखी-दुःखी हो जाता है। इसका कारण यह है कि सुखकी आसक्ति और दुःखका भय रहनेसे 'मैं अलग हूँ और सुख-दुःख अलग हैं'—यह विवेक

* '**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**' (श्वेताश्वतर० ४। १०)
~~~~

काम नहीं करता। वास्तवमें स्वयं सुखी-दु:खी नहीं होता, प्रत्युत शरीरके साथ मिलकर अपनेको सुखी-दु:खी मान लेता है। तात्पर्य है कि सुख-दु:ख केवल अविवेकपूर्वक की गयी मान्यतापर टिके हुए हैं।

~~~

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २२॥

यह पुरुष—

उपद्रष्टा	=(शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे) 'उपद्रष्टा',	**भोक्ता**	=(उसके संगसे सुख-दु:ख भोगनेसे) 'भोक्ता'	**परमात्मा**	='परमात्मा'—
अनुमन्ता	=(उसके साथ मिलकर सम्मति, अनुमति देनेसे) 'अनुमन्ता',	**च**	=और	**इति**	=इस नामसे
भर्ता	=(अपनेको उसका भरण-पोषण करनेवाला माननेसे) 'भर्ता',	**महेश्वरः**	=(अपनेको उसका स्वामी माननेसे) 'महेश्वर' (बन जाता है)।	**उक्तः**	=कहा जाता है। (यह)
		च	=परन्तु	**अस्मिन्**	=इस
		पुरुषः	=(स्वरूपसे यह) पुरुष	**देहे, अपि**	=देहमें रहता हुआ भी (देहसे)
				परः	=पर (सर्वथा सम्बन्ध-रहित) ही है।

विशेष भाव—वास्तवमें पुरुष 'पर' ही है, पर अन्यके सम्बन्धसे वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि बन जाता है। जैसे, मनुष्य पुत्रके सम्बन्धसे 'पिता', पिताके सम्बन्धसे 'पुत्र', पत्नीके सम्बन्धसे 'पति', बहनके सम्बन्धसे 'भाई' आदि बन जाता है। ये सम्बन्ध अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही हैं, ममता करनेके लिये नहीं। वास्तविक स्वरूप तो 'पर' अर्थात् सर्वथा सम्बन्धरहित ही है।

यहाँ उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि अनेक उपाधियोंका तात्पर्य एकतामें है कि चेतन तत्त्व वास्तवमें एक ही है। ज्ञानके प्रकरणमें प्रकृति और पुरुष दोका ही वर्णन मुख्य है। अत: यहाँ आये उपद्रष्टा, अनुमन्ता, ईश्वर आदि सब शब्द 'पुरुष' के वाचक समझने चाहिये।

~~~

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥

एवम्	=इस प्रकार	**प्रकृतिम्**	=प्रकृतिको	**सर्वथा**	=सब तरहका
पुरुषम्	=पुरुषको	**यः**	=जो मनुष्य	**वर्तमानः**	=बर्ताव करता हुआ
च	=और	**वेत्ति**	=(अलग-अलग) जानता है,	**अपि**	=भी
गुणैः	=गुणोंके			**भूयः**	=फिर
सह	=सहित	**सः**	=वह	**न, अभिजायते**	= जन्म नहीं लेता।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें आये '**देहेऽस्मिन् पुरुषः परः**' की व्याख्या इस श्लोकमें करते हैं। जिसका विवेक जाग्रत् हो गया है अर्थात् '**देहेऽस्मिन् पुरुषः परः**'—यह अनुभवमें आ गया है, वह अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सब कर्म करते हुए भी निर्लेप रहता है। वास्तवमें मनुष्यमात्रका स्वरूप निर्लिप्त ही है, पर गुणोंके संगसे वह लिप्त हो जाता है और बार-बार जन्मता-मरता है (गीता १३। २१)। गुणोंका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है, पुरुषके साथ

नहीं (गीता १३। १९-२०)।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि' पदोंमें आये **'अपि'** का तात्पर्य है कि वह आसक्त मनुष्यकी तरह सब बर्ताव करता हुआ भी निर्विकार रहता है*।

'न स भूयोऽभिजायते'—जैसे छाछसे निकला हुआ मक्खन पुनः छाछमें मिलकर दही नहीं बनता, ऐसे ही प्रकृतिजन्य गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मनुष्य पुनः गुणोंसे नहीं बँधता। उसकी ब्रह्मसे सधर्मता हो जाती है अर्थात् जैसे ब्रह्मका जन्म-मरण नहीं होता, ऐसे ही उसका भी जन्म-मरण नहीं होता।

छठे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें आया है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'** और यहाँ आया है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'**। छठे अध्यायमें आये **'स योगी मयि वर्तते'** पदोंमें प्रेमकी प्राप्ति है और यहाँ आये **'न स भूयोऽभिजायते'** पदोंमें बोधकी प्राप्ति है। प्रेम और बोध—दोनोंमें ही गुणोंका संग नहीं रहता। दोनोंमें अन्तर यह है कि बोधमें तो जन्म-मरणसे मुक्ति होती है, पर प्रेममें मुक्तिके साथ-साथ भगवान्‌से अभिन्नता होती है।

~~~

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥

केचित्	= कई मनुष्य	**योगेन**	= सांख्ययोगके द्वारा	**आत्मना**	= अपने-आपसे
ध्यानेन	= ध्यानयोगके द्वारा,	**च**	= और	**आत्मनि**	= अपने-आपमें
अन्ये	= कई	**अपरे**	= कई	**आत्मानम्**	= परमात्मतत्त्वका
साङ्ख्येन,		**कर्मयोगेन**	= कर्मयोगके द्वारा	**पश्यन्ति**	= अनुभव करते हैं।

विशेष भाव—जैसे पूर्वश्लोकमें विवेकके महत्त्वको मुक्तिका उपाय बताया, ऐसे ही यहाँ ध्यानयोग आदि अन्य उपाय बताते हैं। गीतामें ध्यानयोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात छठे अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें कही है, सांख्ययोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात दूसरे अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें कही है और कर्मयोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें कही है। ये सभी परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन हैं।

~~~

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

---

* **सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।**
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ (गीता ३। २५)

'हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

अन्ये	=दूसरे मनुष्य	**अन्येभ्यः**	=दूसरोंसे (जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे)	**श्रुतिपरायणाः**	=सुननेके अनुसार आचरण करनेवाले मनुष्य
एवम्	=इस प्रकार (ध्यान-योग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि साधनोंको)	**श्रुत्वा**	=सुनकर	**अपि**	=भी
		एव	=ही	**मृत्युम्**	=मृत्युको
अजानतः	=नहीं जानते,	**उपासते**	=उपासना करते हैं,	**अतितरन्ति**	=तर जाते हैं।
तु	=पर	**च, ते**	=ऐसे वे		

विशेष भाव—जिन मनुष्योंमें शास्त्रोंको समझनेकी योग्यता नहीं है, जिनका विवेक कमजोर है, पर जिनके भीतर मृत्युसे तरनेकी उत्कट अभिलाषा है, ऐसे मनुष्य भी जीवन्मुक्त सन्त-महात्माओंकी आज्ञाका पालन करके मृत्युको तर जाते हैं।

उपनिषद्में एक कथा आती है। जबालाका पुत्र सत्यकाम गौतम ऋषिके पास उपदेश लेने गया। ऋषिने उसको चार सौ कृश तथा निर्बल गायें देकर कहा कि तू इनके पीछे-पीछे जा। सत्यकामने उत्साहपूर्वक कहा कि इनकी संख्या एक हजार होनेपर ही मैं वापिस आऊँगा। ऐसा कहकर वह उन गायोंको वनमें ले गया और वहाँ उनका पालन-पोषण करने लगा। बहुत वर्ष बीतनेपर जब उनकी संख्या एक हजार हो गयी, तब एक साँड़ने उससे कहा कि हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, अब तू हमारेको आचार्यके पास पहुँचा दे, ऐसा कहकर उस साँड़ने सत्यकामको ब्रह्मके प्रथम पादका उपदेश दिया। दूसरे ही दिन सत्यकाम गायोंको लेकर गुरुकुलकी ओर रवाना हो गया। रास्तेमें उसको अग्निने ब्रह्मके दूसरे पादका, हंसने ब्रह्मके तीसरे पादका और मद्‌गु [एक जलचर पक्षी] ने ब्रह्मके चौथे पादका उपदेश दिया। इस प्रकार रास्तेमें ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके वह गौतम ऋषिके पास पहुँचा। गुरुके पूछनेपर उसने सारी बात बतायी और उनसे अपने श्रीमुखसे उपदेश देनेकी प्रार्थना की। तब गौतम ऋषिने उसको उपदेश दिया (छान्दोग्य० ४। ४—९)। इस तरह केवल तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त महापुरुषकी आज्ञा माननेसे ही सत्यकामको तत्त्वज्ञान हो गया।

~~~

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

भरतर्षभ	=हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**यावत्, किञ्चित्**	= जितने भी	**क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्**	= क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे (उत्पन्न हुए)
		सत्त्वम्	=प्राणी		
स्थावरजङ्गमम्	= स्थावर और जंगम	**सञ्जायते**	=पैदा होते हैं,		
		तत्	=उनको (तुम)	**विद्धि**	=समझो।

विशेष भाव—यहाँ **'यावत्सञ्जायते'** के अन्तर्गत जरायुज-अण्डज-उद्भिज्ज-स्वेदज, जलचर-नभचर-थलचर, मनुष्य, देवता, पितर, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सम्पूर्ण प्राणी लेने चाहिये। सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें भी **'एतद्योनीनि भूतानि'** पदोंसे यही बात कही गयी है।

भक्तिके प्रकरणमें भगवान्‌ने परा और अपरा—दोनोंको अपनी प्रकृति बताकर कहा कि 'इन दोनों प्रकृतियोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं और मैं ही सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव तथा प्रलय हूँ' (गीता ७। ६)। परन्तु यहाँ ज्ञानके प्रकरणमें भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य है कि भक्तिके प्रकरणमें भगवान् अपनी तरफ दृष्टि कराते हैं; क्योंकि भक्तका भगवान्‌पर ही दृढ़ विश्वास होता है। उसके साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। परन्तु ज्ञानमें भगवान् क्षेत्रज्ञ (स्वरूप) की ओर दृष्टि कराते हैं कि क्षेत्रके साथ तादात्म्य करनेके कारण ही वह जन्म-मृत्युरूप बन्धनमें पड़ा है। यहाँ प्रश्न होता है कि आकर्षण एवं मिलन (संयोग) सजातीयतामें ही होता है, फिर विजातीय क्षेत्र (जड़) के साथ क्षेत्रज्ञ (चेतन)का संयोग
~~~

कैसे हुआ? इसका उत्तर है कि जैसे रात और दिनका संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भी संयोग नहीं हो सकता। परन्तु परमात्माका अंश होनेके कारण क्षेत्रज्ञमें यह शक्ति है कि वह विजातीय वस्तुको भी पकड़ सकता है, उसके साथ अपना सम्बन्ध मान सकता है। उसको यह स्वतन्त्रता भगवान्‌ने ही दी है। परन्तु उसने इस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया अर्थात् भगवान्‌के साथ सम्बन्ध न मानकर संसारके साथ सम्बन्ध मान लिया और जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया (गीता १३। २१)।

~~~

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

यः	= जो	**परमेश्वरम्**	= परमेश्वरको	**पश्यति**	= देखता है,
विनश्यत्सु	= नष्ट होते हुए	**अविनश्यन्तम्**	= नाशरहित (और)	**सः**	= वही
सर्वेषु	= सम्पूर्ण	**समम्**	= समरूपसे	**पश्यति**	= (वास्तवमें सही) देखता है।
भूतेषु	= प्राणियोंमें	**तिष्ठन्तम्**	= स्थित		

विशेष भाव—जैसे आकाशमें कभी सूर्यका प्रकाश फैल जाता है, कभी अँधेरा छा जाता है, कभी धुआँ छा जाता है, कभी काले-काले बादल छा जाते हैं, कभी बिजली चमकती है, कभी वर्षा होती है, कभी ओले गिरते हैं, कभी तरह-तरहके शब्द होते हैं, गर्जना होती है; परन्तु आकाशमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहता है। ऐसे ही सर्वत्र परिपूर्ण सत्तामें कभी महासर्ग और महाप्रलय होता है, कभी सर्ग और प्रलय होता है, कभी जन्म और मृत्यु होती है, कभी अकाल पड़ता है, कभी बाढ़ आती है, कभी भूचाल आता है, कभी घमासान युद्ध होता है; परन्तु सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। कितनी ही उथल-पुथल हो जाय, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहती है। यह निर्विकारता स्वाभाविक है, जबकि विकार (संग) कृत्रिम है, माना हुआ है। बद्ध हो या मुक्त, पापी हो या धर्मात्मा, यह निर्विकार सत्ता दोनोंमें समानरूपसे स्थित है।

जैसे, गंगाजी निरन्तर बहती रहती हैं, पर जिसके ऊपर बहती हैं, वह आधारशिला ज्यों-की-त्यों स्थिर रहती है। गंगाजीका जल कभी स्वच्छ होता है, कभी मटमैला होता है। कभी जल कम हो जाता है, कभी बाढ़ आ जाती है। कभी तपे पहाड़पर वर्षा होनेसे जल गरम हो जाता है, कभी ठण्डा हो जाता है। कभी तेज प्रवाहके कारण जल आवाज करने लगता है, कभी शान्त हो जाता है। परन्तु आधारशिला ज्यों-की-त्यों रहती है, उसमें कभी कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी तरह कभी जलमें मछलियाँ आ जाती हैं, कभी साँप आदि जन्तु आ जाते हैं, कभी लकड़ीके सिलपट तैरते हुए आ जाते हैं, कभी पुष्प बहते हुए आ जाते हैं, कभी कूड़ा-कचरा आ जाता है, कभी मैला आ जाता है, कभी गोबर आ जाता है, कभी कोई मुर्दा बहता हुआ आ जाता है, कभी कोई जीवित व्यक्ति तैरता हुआ आ जाता है। ये सब तो आकर चले जाते हैं, पर आधारशिला ज्यों-की-त्यों अचल-निर्विकार रहती है। ऐसे ही सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदि निरन्तर बह रही है, पर स्वयं (चिन्मय सत्ता) ज्यों-का-त्यों अचल रहता है। परिवर्तन और विनाश देश, काल आदिमें होता है, स्वयंमें नहीं।

'यः पश्यति स पश्यति'—ये पद पाँचवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें साधनके विषयमें आये हैं और प्रस्तुत श्लोकमें सिद्धिके विषयमें आये हैं। इसीको आगे अठारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें व्यतिरेकरीतिसे कहा गया है कि जो आत्माको कर्ता देखता है, वह दुर्मति ठीक नहीं देखता—**'न स पश्यति दुर्मतिः'**।

~~~

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥

हि	=क्योंकि	**पश्यन्**	=देखनेवाला मनुष्य	**ततः**	=इसलिये (वह)
सर्वत्र	=सब जगह	**आत्मना**	=अपने-आपसे	**पराम्**	=परम
समवस्थितम्	=समरूपसे स्थित	**आत्मानम्**	=अपनी	**गतिम्**	=गतिको
ईश्वरम्	=ईश्वरको	**न, हिनस्ति**	=हिंसा नहीं करता,	**याति**	=प्राप्त हो जाता है।
समम्	=समरूपसे				

विशेष भाव—सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें आत्माके लिये 'परमेश्वर' और 'ईश्वर' नाम आये हैं; क्योंकि आत्माका परमात्मासे साधर्म्य है (गीता १३। २२)।

~~~

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

यः	=जो	**क्रियमाणानि**	= की जाती हुई	**पश्यति**	=देखता (अनुभव करता) है,
कर्माणि	=सम्पूर्ण क्रियाओंको	**पश्यति**	=देखता है		
सर्वशः	=सब प्रकारसे	**तथा**	=और		
प्रकृत्या	=प्रकृतिके द्वारा	**आत्मानम्**	=अपने-आपको	**सः, च**	=वही (यथार्थ देखता है)।
एव	=ही	**अकर्तारम्**	=अकर्ता		

विशेष भाव—जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब-की-सब प्रकृति-विभागमें ही होती हैं। इसमें जीवका हाथ नहीं है। प्रकृतिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको ही गीतामें कहीं 'गुणोंसे होनेवाली क्रियाएँ' और कहीं 'इन्द्रियोंसे होनेवाली क्रियाएँ' कहा गया है; जैसे—सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं—'**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः**' (३। २७); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (३। २८); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं—'**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति**' (१४। १९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं—'**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते**' (५। ९) आदि। तात्पर्य है कि क्रियामात्र प्रकृतिजन्य ही है। अतः प्रकृति कभी किंचिन्मात्र भी अक्रिय नहीं होती और पुरुषमें कभी किंचिन्मात्र भी क्रिया नहीं होती। इसलिये गीतामें आया है कि तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी 'मैं (स्वयं) लेशमात्र भी कुछ नहीं करता हूँ'—ऐसा अनुभव करता है—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (५। ८); स्वयं न करता है, न करवाता है—'**नैव कुर्वन्न कारयन्**' (५। १३); यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (१३। ३१); जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है—'**तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं**........' (१८। १६) आदि।

~~~

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३०॥

यदा	=जिस कालमें (साधक)	**एकस्थम्**	=एक प्रकृतिमें ही स्थित	**एव**	=ही (उन सबका)
				विस्तारम्	=विस्तार (देखता है),
भूतपृथग्भावम्	= प्राणियोंके अलग-अलग भावोंको	**अनुपश्यति**	=देखता है	**तदा**	=उस कालमें (वह)
		च	=और	**ब्रह्म**	=ब्रह्मको
		ततः	=उस प्रकृतिसे	**सम्पद्यते**	=प्राप्त हो जाता है।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें व्यक्तिकी बात और प्रस्तुत श्लोकमें कालकी बात आयी है।

भक्तिके प्रकरणमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण भावोंको अपनेमें बताया है—**'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'** (१०। ५), पर यहाँ ज्ञानके प्रकरणमें सम्पूर्ण भावोंको प्रकृतिमें बताया है। तात्पर्य है कि जहाँ सत्-असत्‌का विभाग किया है, वहाँ सब भाव असत्‌में कहे हैं और जहाँ समग्रकी बात कही है, वहाँ सब भाव अपनेमें कहे हैं। समग्रमें सत्-असत् सब कुछ परमात्मा ही हैं—**'सदसच्चाहम्'** (९। १९)।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१ ॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**अव्ययः**	=अविनाशी	**अपि**	=भी
अयम्	=यह (पुरुष स्वयं)	**परमात्मा**	= परमात्मस्वरूप ही है।	**न**	=न
अनादित्वात्	=अनादि होनेसे (और)			**करोति**	=करता है (और)
		शरीरस्थः	=यह शरीरमें रहता हुआ	**न**	=न
निर्गुणत्वात्	=गुणोंसे रहित होनेसे			**लिप्यते**	=लिप्त होता है।

विशेष भाव—पुरुष अनादि है, पर शरीर आदिवाला है। पुरुष निर्गुण है, पर शरीर गुणमय है। पुरुष परमात्मा है, पर शरीर अनात्मा है। पुरुष अव्यय है, पर शरीर नाशवान् है। इसलिये अज्ञानी मनुष्यके द्वारा पुरुष (आत्मा)को शरीरमें स्थित माननेपर भी वास्तवमें वह शरीरमें स्थित नहीं है अर्थात् शरीरसे सर्वथा असम्बद्ध है—**'न करोति न लिप्यते'**। कारण कि शरीरका सम्बन्ध तो संसारके साथ है, पर पुरुषका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। अतः वास्तवमें पुरुष कभी शरीरस्थ हो सकता ही नहीं। परन्तु इस वास्तविकताकी तरफ ध्यान न देनेके कारण मनुष्य उसको शरीरस्थ मान लेता है।

'निर्गुणत्वात्'—पुरुष स्वयं निर्गुण होते हुए भी गुणोंका संग करके बँध जाता है (गीता १३। २१)। दीखता तो ऐसा ही कि बन्धन स्वतः-स्वाभाविक है और मुक्ति कृतिसाध्य है, पर वास्तवमें मुक्ति स्वतः-स्वाभाविक है और बन्धन कृतिसाध्य है। गुणोंका सम्बन्ध पुरुषके साथ नहीं है, प्रत्युत प्रकृतिके साथ है (गीता १३। २३)। इसलिये 'अनादि, निर्गुण, परमात्मा, अव्यय' और **'न करोति न लिप्यते'**—ये स्वतः-स्वाभाविक हैं। साधकको इस स्वाभाविकताका अनुभव करना है।

जैसे मकानमें रहते हुए भी हम मकानसे अलग हैं, ऐसे ही शरीरमें रहते हुए माननेपर भी हम शरीरसे अलग हैं।

'न करोति न लिप्यते'—यह साधनजन्य नहीं है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक है। तात्पर्य है कि स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—यह स्वतःसिद्ध बात है। इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् इसके लिये कुछ करना नहीं है। तात्पर्य है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वको मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है, इनके अभावका अनुभव करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं! इसलिये साधकको अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव करना चाहिये। अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व (निष्कामता-निर्ममता) का अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है। इसीको गीताने स्मृति प्राप्त होना कहा है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (१८। ७३)।

अगर स्वरूप कर्ता और भोक्ता नहीं है तो फिर कर्ता और भोक्ता कौन है? यह विचार किया जाता है। पहले यह विचार करें कि कर्ता कौन है? शरीर कर्ता नहीं है; क्योंकि यह प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार करण हैं, जिनको 'अन्तःकरण' कहते हैं। यह अन्तःकरण भी कर्ता नहीं है; क्योंकि करण कर्ताके अधीन होता है। परन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है—**'स्वतन्त्रः कर्ता'** (पाणि० अ० १। ४। ५४)। करण तो क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त सहायक होता है—**'साधकतमं करणम्'** (पाणि० अ० १। ४। ४२), इसलिये करणके बिना किसी क्रियाकी सिद्धि होती ही नहीं। जैसे, कलम स्वतन्त्रतासे नहीं लिखती, प्रत्युत वह तो लिखनेका एक साधन

(करण) है, जो लेखक (कर्ता)के अधीन होता है। अतः करण कर्ता नहीं होता और कर्ता करण नहीं होता। दूसरी बात, यदि करणमें कर्तापन है तो फिर सुखी-दुःखी स्वयं क्यों होता है? यदि करण सुखी-दुःखी होता है तो हमें क्या नुकसान है? सत्-स्वरूप भी कर्ता नहीं है; क्योंकि मैंपन तो प्रकृतिका कार्य है, वह प्रकृतिसे अतीतमें कैसे सम्भव है? यदि स्वरूपमें कर्तापन होता तो वह कभी मिटता नहीं; क्योंकि स्वरूप अविनाशी है। इसलिये भगवान्ने यहाँ स्वरूपमें कर्तापनका निषेध किया है—**'न करोति'**। आगे अठारहवें अध्यायमें भी भगवान्ने कहा है कि जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है (गीता १८। १६)। वास्तवमें जो भोक्ता (सुखी-दुःखी) होता है, वही कर्ता होता है।

अब यह विचार करें कि भोक्ता कौन है? भोक्ता न सत् है, न असत् है। सत् भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि सत्‌में कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'**, जबकि भोक्तापनका अभाव होता है—**'न लिप्यते'**। असत् भी भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि असत्‌की सत्ता ही नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'**। असत्‌में चेतनता भी नहीं है। अतः उसमें भोक्तापनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। तात्पर्य यह हुआ कि कर्तापन और भोक्तापन न तो सत्‌में है और न असत्‌में ही है। सत्-असत्‌के संयोगमें भी कर्तापन और भोक्तापन नहीं है; क्योंकि जैसे दिन और रातका संयोग असम्भव है, ऐसे ही सत् और असत्‌का संयोग भी असम्भव है। अतः कर्तापन-भोक्तापन केवल माने हुए हैं—**'कर्ताहमिति मन्यते'** (३। २७)। जब साधक विवेकपूर्वक शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है अर्थात् मैं-मेरापनको मिटा देता है (जो कि वास्तवमें है नहीं), तब न कर्ता रहता है, न भोक्ता रहता है, प्रत्युत एक चिन्मय सत्ता रहती है। इस प्रकार अपनेमें कर्तापन और भोक्तापनके अभावका अनुभव होनेपर साधक मुक्त हो जाता है अर्थात् कर्ता-भोक्ता नहीं रहता, प्रत्युत शुद्ध स्वरूप (चिन्मय सत्ता) रह जाता है।

'न करोति न लिप्यते' पदोंका विवेचन भगवान्ने आगे बत्तीसवें-तैंतीसवें श्लोकोंमें किया है।

~~~

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥

यथा	= जैसे	**न, उपलिप्यते**	= (कहीं भी) लिप्त नहीं होता,	**अवस्थितः**	= परिपूर्ण
सर्वगतम्	= सब जगह व्याप्त			**आत्मा**	= आत्मा
आकाशम्	= आकाश	**तथा**	= ऐसे ही	**देहे**	= (किसी भी) देहमें
सौक्ष्म्यात्	= अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे	**सर्वत्र**	= सब जगह	**न, उपलिप्यते**	= लिप्त नहीं होता।

विशेष भाव—चिन्मय सत्ता एक ही है, पर अहंताके कारण वह अलग-अलग दीखती है। अपरा प्रकृतिके अंश **'अहम्'** को पकड़नेके कारण ही यह जीव 'अंश' कहलाता है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५। ७)। अगर यह अहम्‌को न पकड़े तो एक सत्ता-ही-सत्ता है। सत्ता (होनेपन)के सिवाय सब कल्पना है। वह चिन्मय सत्ता सब कल्पनाओंका आधार, अधिष्ठान, प्रकाशक और आश्रय है। उस सत्तामें एकदेशीयपना नहीं है। वह चिन्मय सत्ता सर्वव्यापक है। सम्पूर्ण सृष्टि (क्रियाएँ और पदार्थ) उस सत्ताके अन्तर्गत है। सृष्टि तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता न शरीरस्थ है और न प्रकृतिस्थ है, प्रत्युत आकाशकी तरह सर्वत्र स्थित है अर्थात् वह सम्पूर्ण शरीरोंके, सृष्टिमात्रके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है और वही परमात्मतत्त्व है। तात्पर्य है कि सर्वदेशीय सत्ता एक ही है। वही योगियोंका योग है, वही ज्ञानियोंका ज्ञान है और वही भक्तोंका भगवान् है। साधकका लक्ष्य निरन्तर उस सत्ताकी तरफ ही रहना चाहिये।

सत्तामें एकदेशीयता अहम्‌के कारण दीखती है। वह अहम् सुखलोलुपतापर टिका हुआ है। साधन करते हुए भी साधक जहाँ है, वहीं सुख भोगने लग जाता है—**'सुखसङ्गेन बध्नाति'** (गीता १४। ६)। यह सुखलोलुपता गुणातीत होनेतक रहती है। अतः इसमें साधकको बहुत विशेष सावधान रहना चाहिये और सावधानीपूर्वक सुखलोलुपतासे बचना चाहिये।

~~~

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**इमम्**	= इस	**क्षेत्री**	= क्षेत्रज्ञ (आत्मा)
यथा	= जैसे	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण
एकः	= एक ही	**लोकम्**	= संसारको	**क्षेत्रम्**	= क्षेत्रको
रविः	= सूर्य	**प्रकाशयति**	= प्रकाशित करता है,	**प्रकाशयति**	= प्रकाशित करता है।
		तथा	= ऐसे ही		

विशेष भाव—जैसे सूर्य सम्पूर्ण जगत् (दृश्यमात्र)को प्रकाशित करता है और उसके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं, पर सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है और न भोक्ता ही बनता है। ऐसे ही स्वयं सम्पूर्ण लोकोंके सब शरीरोंको प्रकाशित करता है अर्थात् उनको सत्ता-स्फूर्ति देता है, पर वास्तवमें स्वयं न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है अर्थात् उसमें न कर्तृत्व आता है, न भोक्तृत्व। तात्पर्य है कि स्वयंमें प्रकाशकत्वका अभिमान नहीं है।

करनेकी जिम्मेवारी उसीपर होती है, जो कुछ कर सकता है। जैसे, कितना ही चतुर चित्रकार हो, बिना सामग्री (रंग, ब्रश आदि) के वह चित्र नहीं बना सकता, ऐसे ही पुरुष (चेतन) बिना प्रकृतिकी सहायताके कुछ नहीं कर सकता। अतः पुरुषपर कुछ करनेकी जिम्मेवारी हो ही नहीं सकती। यह सबका अनुभव है कि शरीरके बिना हम कुछ कर सकते ही नहीं। इसलिये कुछ-न-कुछ करनेमें ही शरीरका उपयोग है। अगर हम कुछ भी न करना चाहें तो शरीरका क्या उपयोग है? कुछ भी उपयोग नहीं है। अगर हम कुछ भी देखना न चाहें तो आँख हमारे क्या काम आयी? कुछ भी सुनना न चाहें तो कान हमारे क्या काम आया? स्थूल क्रिया करनेमें स्थूलशरीर काम आता है। चिन्तन, ध्यान करनेमें सूक्ष्मशरीर काम आता है। स्थिरता, समाधिमें कारणशरीर काम आता है।* अगर कुछ न करें तो तीनों शरीर हमारे क्या काम आये? शरीर और उसके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ संसारके ही काम आती हैं। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है; अतः उसके लिये शरीर और उसकी क्रियाएँ कुछ काम नहीं आतीं। चिन्मय सत्तामात्रमें कोई कमी नहीं आती, वह सर्वथा पूर्ण है; अतः हमारेको अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। चिन्मय सत्ताके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं; क्योंकि सत्ता एक ही हो सकती है, दो हो सकती ही नहीं। अतः हमारेको किसी साथीकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार न तो क्रियाके साथ सम्बन्ध (कर्तृत्व) हो, न अप्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (कामना) हो और न प्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (ममता) हो तो प्रकृतिके साथ तादात्म्य नहीं रहेगा। प्रकृतिसे तादात्म्य न रहनेपर प्रकृतिमें क्रिया तो रहेगी, पर कर्ता और भोक्ता कोई नहीं रहेगा (गीता १३। २९)।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

एवम्	= इस प्रकार	**च**	= तथा	**विदुः**	= जानते हैं,
ये	= जो	**भूतप्रकृतिमोक्षम्**	= कार्य-कारण-सहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग	**ते**	= वे
ज्ञानचक्षुषा	= ज्ञानरूपी नेत्रोंसे			**परम्**	= परमात्माको
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः	= क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके			**यान्ति**	= प्राप्त हो जाते हैं।
अन्तरम्	= विभागको				

* समाधि और व्युत्थान—दोनों कारणशरीरमें होते हैं। कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'सहज समाधि' अथवा

विशेष भाव—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान 'विवेक' कहलाता है। जो साधक इस विवेकको महत्त्व देकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको ठीक-ठीक जान लेते हैं तथा प्रकृति और उसके कार्य (शरीर)को स्वयंसे सर्वथा अलग अनुभव कर लेते हैं, वे चिन्मय परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें एक चिन्मय तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता।

भगवान्ने '**मद्भावायोपपद्यते**' (१३। १८) पदसे सगुणकी प्राप्ति बतायी है और यहाँ '**ये विदुर्यान्ति ते परम्**' पदोंसे निर्गुणकी प्राप्ति बतायी है। वास्तवमें '**मद्भाव**' और '**परम्**' की प्राप्ति एक ही है (गीता ८। २१, १४। २७)।

~~~~

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

~~~~